इकाई 25 मन्त्र, नामधेय, निषेध एवं अर्थवाद

इकाई की रूपरेखा

25.0 उद्देश्य

- अर्थसंग्रह में वर्णित 'मन्त्र' से भलीभाँति परिचित हो सकेंगे।
- अर्थसंग्रह में वर्णित 'नामधेय' से भलीभाँति परिचित हो सकेंगे।
- अर्थसंग्रह में वर्णित 'निषेध' से भलीभाँति परिचित हो सकेंगे।
- अर्थसंग्रह में वर्णित 'अर्थवाद' से भलीभाँति परिचित हो सकेंगे; तथा
- अर्थसंग्रह के नये पदों की प्रकृति एवं प्रत्यय को जान सकेंगे।

25.1 प्रस्तावना

आस्तिक नास्तिक के भेद से विभाजित भारतीय दर्शन की अक्षुण्य परम्परा वेदकाल से अबाध्य समृद्धि को प्राप्त होती चली आ रही है। आस्तिक दर्शन ने प्रायः श्रुतियों का ही

समर्थन किया है तथा उससे निर्दिष्ट मार्ग का अनुगमन किया है। विचारविश्लेषण के वैशिष्ट्य से आस्तिक में भी अनेक सम्प्रदाय प्रसिद्ध हुए जैसे – सांख्यदर्शन, योगदर्शन, न्यायदर्शन, वैशेषिकदर्शन, मीमांसादर्शन एवं वेदान्तदर्शन आदि। सभी दर्शनों का मोक्ष ही एकमात्र लक्ष्य है। वस्तुतः तत्त्वदर्शन तो विचारभेद का है अन्यथा गन्तव्य स्थान तो एक ही है। नास्तिक दर्शन में चार्वाक, बौद्ध एवं जैन दर्शन की गणना की जाती है इसी प्रकार आस्तिक दर्शन में सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा एवं वेदान्त दर्शन गण्य हैं। मीमांसा दर्शन भारतीय दर्शन का एक ऐसा दर्शन है जो कर्मकाण्ड, यज्ञादि की विवेचना करता है।

मीमांसा शब्द मान् धातु से सन् और स्त्रीत्व की विवक्षा में टाप् प्रत्यय के योग से निष्पन्न होता है। मीमांसा शब्द पूजितविचार अर्थ का द्योतक है जो परमपुरुषार्थ मोक्ष के हेतु का सूक्ष्मतम विचार करता है– 'पूजितविचारवचनो मीमांसाशब्दः। परमपुरुषार्थहेतुभूतसूक्ष्मतमार्थनिर्णयफलतया च विचारस्य पूजितता'। मीमांसा दर्शन के प्रवर्तक आचार्य जैमिनि हैं जिनके द्वारा मीमांसा दर्शन के आधार ग्रन्थ मीमांसासूत्र की रचना की गयी। मीमांसा दर्शन में मुख्य रूप से तीन सम्प्रदाय प्रसिद्ध हैं – भाट्टसम्प्रदाय, प्राभाकर सम्प्रदाय एवं मुरारी सम्प्रदाय। मीमांसा दर्शन में प्रमाणों की संख्या भाट्ट सम्प्रदाय के अनुसार पाँच – प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द एवं अर्थापत्ति है प्रभाकर के अनुसार छः प्रमाण स्वीकृत हैं – प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति एवं अनुपलब्धि। मीमांसा दर्शन के प्रथम अध्याय का प्रथम पाद तर्कपाद के नाम से प्रसिद्ध है। मीमांसा में मुख्य रूप से धर्म की व्याख्या एवं विवेचन किया गया है। मीमांसा दर्शन का प्रथम सूत्र धर्म की जिज्ञासा करने के लिए प्रेरित करता है – 'अथातो धर्मजिज्ञासा'। तथा द्वितीय सूत्र धर्म की व्याख्या करता है – 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः'। मीमांसा दर्शन के प्रकरण ग्रन्थ अर्थसंग्रह में धर्म का लक्षण किया गया है – 'यागादिरेव धर्मः' अर्थात् यागादि कर्म ही धर्म है। इसी प्रकार धर्म का एक अन्य लक्षण प्रस्तुत करते हैं– 'वेदप्रतिपाद्यः प्रयोजनवदर्थो धर्मः' अर्थात् वेद में प्रतिपादित विषय जो प्रयोजन के समान अर्थ है वही धर्म है। इस प्रकार मीमांसा दर्शन का मूल विवेच्य विषय धर्म ही है। कुमारिल भट्ट के अनुसार मीमांसा दर्शन का प्रयोजन धर्म ही है – 'धर्माख्यं विषयं वक्तुं मीमांसायाः प्रयोजनम्'।

25.2 मन्त्र से अभिप्राय

मीमांसक शब्द को नित्य मानते हैं। इनके अनुसार यदि शब्द का उच्चारण हो गया तो वह सर्वदा नित्य है क्योंकि जब किसी शब्द का उच्चारण किया जाता है तो स्मरण होता है कि यह शब्द कहीं सुना था। अतः शब्द का नित्यत्व सिद्ध है। वेदों की उत्पत्ति के विषय में विद्वानों में मतभेद है, कुछ विद्वान् वेदों को मनुष्य अथवा ऋषि की कृति मानते हैं, कुछ ईश्वरकृत एवं कुछ अनादि मानते हैं। 'विद् ज्ञाने' धातु से घञ् प्रत्यय होकर वेद शब्द की निष्पत्ति होती है जिसका सामान्य अर्थ है – ज्ञान की राशि। ऋक्प्रातिशाख्य की व्याख्या में विष्णुमित्र ने वेद का अर्थ किया है – 'विद्यन्ते ज्ञायन्ते लभ्यन्ते एभिर्धर्मादिपुरुषार्था इति वेदाः' अर्थात् जिससे धर्मार्थादि पुरुषार्थ चतुष्टय के स्वरूप का बोध हो, जिससे पुरुषार्थ चतुष्टय का ज्ञान प्राप्त हो तथा जिससे पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति हो उसे वेद कहते हैं। चारों वेदों पर भाष्य करने वाले सायणाचार्य वेद का स्वरूप बताते हुए कहते हैं – 'इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिकमुपायं यो ग्रन्थो वेदयति स वेदः' अर्थात् जो इष्ट की प्राप्ति एवं अनिष्ट के निवारण का अलौकिक उपाय बताता है उसे वेद कहते हैं।

ऋग्वेदभाष्यभूमिका में मन्त्र एवं ब्राह्मण को वेद के नाम से जाना जाता है – 'वेदब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्'। मीमांसा दर्शन में अपौरुषेय वाक्य को वेद कहा गया है – 'अपौरुषेयं वाक्यं वेदः'। वेद को भलीभाँति समझने के लिए विषयक्रम से उसका विभाजन किया गया है, जहाँ वेद के पाँच भेद हैं – 1. विधि, 2. मन्त्र, 3. नामधेय, 4. निषेध और 5. अर्थवाद।

प्रस्तुत इकाई में मन्त्र का विवेचन करना ही अभिप्रेत है। मन्त्र का लक्षण करते हुए अर्थसंग्रहकार ने कहा है – 'प्रयोगसमवेतार्थस्मारका मन्त्राः' अर्थात् कर्मानुष्ठान के समय द्रव्य देवता आदि पदार्थों का स्मरण कराने वाले वेदभाग को मन्त्र कहते हैं। मन्त्र के मुख्यतः दो प्रयोजन हैं – अदृष्ट प्रयोजन एवं दृष्ट प्रयोजन। अदृष्ट प्रयोजन का अर्थ है – स्वर्गादि की कामना। दृष्ट प्रयोजन का अर्थ है – मन्त्रोच्चारण से कर्मानुष्ठान से सम्बद्ध द्रव्य–देवतादि का स्मरण। सर्वज्ञात है कि दृष्ट प्रयोजन के प्राप्त होने पर अदृष्ट प्रयोजन की कल्पना नहीं की जा सकती – 'दृष्टफलकत्वेऽदृष्टफलकल्पनाया अन्याय्यत्वात्'। अन्यत्र भी कहा गया है–

लभ्यमाने फले दृष्टे नादृष्टपरिकल्पना।
विधेस्तु नियमार्थत्वान्नानर्थक्यं भविष्यति।।

अतः मन्त्र का दृष्ट प्रयोजन द्रव्य–देवतादि का स्मरण प्राप्त है तो स्वर्गादि अदृष्ट प्रयोजन की कल्पना से कोई लाभ नहीं। दूसरा मत यह है कि द्रव्य–देवतादि का स्मरण यदि दूसरे किसी साधन से कर लिया जाय तो मन्त्र का अदृष्ट प्रयोजन भी सिद्ध हो जायेगा एवं दृष्ट भी। किन्तु शास्त्रविहित है कि 'मन्त्रैरेव स्मृत्वा कर्माणि कुर्यादिति' मन्त्रों का स्मरण करके ही कर्मों का सम्पादन करना चाहिए। मन्त्र के दृष्टादृष्ट प्रयोजन को भलीभाँति जानने के लिए उसकी कुछ विधियों को जान लेना आवश्यक है जैसे– नियम विधि एवं परिसंख्या विधि।

25.2.1 नियम विधि

जहाँ एक ही क्रिया की सिद्धि के लिए अनेक साधन प्राप्त हों किन्तु किसी एक साधन के प्राप्त होने पर अन्य साधनों की भी प्राप्ति करा दे ऐसी विधि का नाम नियम विधि है – 'नानासाधनसाध्यक्रियायामेकसाधनप्राप्तावप्राप्तस्यापरसाधनस्य प्रापको विधिर्नियमविधिः'। जैसे – क्षुधा की शान्ति के लिए फलाहार, अन्नाहार, मिष्ठान्न, फलरसाहारादि आदि प्राप्त हैं और कोई फलाहार द्वारा क्षुधाशान्ति के लिए प्रवृत्त होता है लेकिन ऐसे स्थिति में अन्य साधनों के प्राप्त होने पर भी अन्नाहाररूपी अप्राप्त साधन का ग्रहण करना नियम विधि है। ऐसे ही अर्थस्मरण (द्रव्य–देवतादि) के अनेक साधन हैं, जिसमें ब्राह्मण वाक्य एवं मन्त्रोच्चारण प्रमुख हैं। यागानुष्ठान के समय यदि कोई ब्राह्मणवाक्य साधन से ही अर्थस्मरण करना चाहता है और मन्त्रोच्चारण को निकृष्ट मानता है, इस अवस्था में मन्त्रोच्चारणरूपी द्वितीय साधन के अप्राप्त होने पर 'मन्त्रैरेव स्मर्तव्यम्' विधि द्वारा मन्त्रोच्चारण साधन को ही प्रमुख साधन के रूप में उपस्थित करने वाली विधि नियम विधि है। वहीं नियमविधि का इस प्रकार से भी लक्षण किया गया है जैसे – 'पक्षेऽप्राप्तस्य प्रापको विधिर्नियमविधिः' अर्थात् पक्ष में अप्राप्त को प्राप्त कराने वाली विधि को नियमविधि कहते हैं। यथा – 'व्रीहिनवहन्ति' यह नियम विधि का उदाहरण है। दर्शपूर्णमासादि यज्ञ में पुरोडाश तैयार करते समय तण्डुलनिष्पत्ति के क्रम में दो साधनों की प्राप्ति होती है – 1. नखविदलन एवं 2. अवहनन। उक्त दो साधनों में कर्ता को प्रथम साधन ही अभिप्रेत है अतः वह नखविदलन द्वारा तण्डुल तैयार करने लगता है इस प्रकार उसके लिए अवहनन साधन

अप्राप्त हो जाता है। ऐसी स्थिति में 'व्रीहिनवहन्ति' यह विधिवाक्य अवहनन के अप्राप्त होने पर भी अवहनन साधन को ही विहित करता है अर्थात् तण्डुलनिष्पत्ति के लिए अवहनन (कूटने) में ही कर्ता को प्रवृत्त करता है – 'वेतुष्यस्य हि नानोपायसाध्यत्वाद्यदाऽवघातं परित्यज्य उपायान्तरं ग्रहीतुमारभते, तदाऽवघातस्याप्राप्तत्वेन तद्विधाननामकमप्राप्तांशपूरणमेवानेन विधिना क्रियते, अतश्च नियमविधावप्राप्तांशपूरणात्मको नियम एव वाक्यार्थः'। इस प्रकार अवहनन रूप साधन के अप्राप्त होने पर भी उस अप्राप्त साधन को प्राप्त कराने वाली विधि नियम विधि है।

25.2.2 परिसंख्या विधि

किसी कार्य की सिद्धि में एक ही काल में प्राप्त दो विधियों में से किसी एक की निवृत्ति का बोध कराने वाली विधि का नाम परिसंख्या विधि है – 'उभयोश्च युगपत्प्राप्तावितरव्यावृत्तिपरो विधिः परिसंख्याविधिः'। परिसंख्या का शाब्दिक अर्थ है – निवृत्ति कराना। यहाँ परि शब्द वर्जनार्थक है तथा संख्या शब्द बुद्धि (ज्ञान) का बोधक है, इस प्रकार परिसंख्या शब्द का यहाँ अर्थ हुआ – वर्जन कराने वाली बुद्धि अथवा ज्ञान। अतः 'परिशब्दोऽत्र वर्जनार्थः। 'परिर्वर्जने' 8.1.5 इति पाणिनिसूत्रे। संख्या बुद्धिः। परिसंख्या वर्जनबुद्धिः। परिसंख्याजनकः विधिः परिसंख्याविधिः'। इस प्रकार परिसंख्या विधि का अर्थ हुआ – निवृत्ति का बोध कराने वाली विधि। अतः परिसंख्या विधि को इस रूप में भी अभिव्यक्त कर सकते हैं– 'एकस्मिन् प्रधाने नियतप्राप्तस्य अङ्गद्वयस्य एकस्मिन् अङ्गे नियतप्राप्तस्य प्रधानद्वयसम्बन्धस्य अन्यतरनिवृत्तिफलको विधिः परिसंख्याविधिः इति वक्तव्यम्'।

परिसंख्या विधि का उदाहरण है – 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' इस वाक्य के श्रवण से ऐसा ज्ञात होता है कि यह वाक्य पञ्चनख वाले जीवों के भक्षण का विधान कर रहा है किन्तु ऐसा नहीं है क्योंकि मनुष्य को भक्षण की प्रवृत्ति स्वभाव से प्राप्त है। तथा शास्त्रतः भी पञ्चनखभक्षण प्राप्त है। जैसे –

> पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या ब्रह्मक्षत्रेण राघवः।
> शशकः शल्लकी गोधा खड्गी कूर्मोऽथ पञ्चमः।।रामायण।।
> पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या धर्मतः परिकीर्तिताः।
> गोधा कूर्मः शशः खड्गः शल्यकश्चेति ते स्मृताः ।।देवलस्मृति।।

इस प्रकार जब रागतः एवं शास्त्रतः पञ्चनख वाले पाँच जीवों के भक्षण की प्राप्ति है पुनः यह वाक्य भी पञ्चनख के भक्षण में प्रवृत्त नहीं कर सकता। अपितु यह वाक्य तो पञ्चनख वाले जीवों के साथ–साथ अपञ्चनख वाले जीवों के भक्षण का निषेध करता है। अतः यहाँ परिसंख्या विधि है। परिसंख्या विधि दो प्रकार की होती है – श्रौती एवं लाक्षणिकी। श्रौती परिसंख्या द्वारा 'अत्र ह्येवावपन्ति' इस वाक्य में 'एव' शब्द से पवमानातिरिक्त स्तोत्र की निवृत्ति का अभिधा से कथन किया गया है; तथा लाक्षणिकी परिसंख्या द्वारा 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' इस वाक्य में लक्षणा द्वारा अनपेक्षित क्रिया की व्यावृत्ति का वाचक पद के न होने पर भी निवृत्त किया गया है। अनपेक्षित क्रिया की व्यावृत्ति के वाचक पद के न होने पर निवृत्त कराने के कारण इस परिसंख्या में तीन प्रकार के दोष आ जाते हैं – श्रुतहानि, अश्रुतकल्पना एवं प्राप्तबाध। 'पञ्चपञ्चनखा भक्ष्याः' इस वाक्य में श्रुत पञ्चपञ्चनखभक्षण का परित्याग 'श्रुतस्य पञ्चनखभक्षणस्य हानात्' श्रुतहानि दोष है, अश्रुतार्थ की कल्पना अर्थात् पञ्चपञ्चनख के अतिरिक्त अन्य पशुओं के भक्षण की निवृत्ति 'अश्रुताऽपञ्चनखभक्षणनिवृत्तेः कल्पनात्' यह अश्रुतकल्पना दोष है तथा तृतीय दोष प्राप्त का बाध करना अर्थात् पञ्चनख एवं

अपञ्चनख का रागतः एवं शास्त्रतः भक्षण प्राप्त होने पर भी भक्षण का बाध ही प्राप्तबाध है – 'प्राप्तस्य च अपञ्चपञ्चनखभक्षणस्य बाधनात्'।

इस प्रकार नियम विधि एवं परिसंख्या विधि के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि जिस मन्त्र के अनुष्ठान से सम्बद्ध अर्थ (द्रव्य–देवतादि) का बोध नहीं होता उस मन्त्र का अदृष्ट प्रयोजन कल्पित होता है – 'येषां तु प्रयोगसमवेतार्थस्मारकत्वं न सम्भवति तदुच्चारणस्यानन्यगत्याऽदृष्टार्थकत्वं कल्प्यत इति नानर्थक्यमिति'। क्योंकि मन्त्रोच्चारण कभी भी निष्प्रयोज्य नहीं हो सकता है। मन्त्रोच्चारण से जब दृष्ट प्रयोजन प्राप्त होता है तब अदृष्ट प्रयोजन अप्राप्य होगा तथा जब दृष्ट प्रयोजन अप्राप्य होगा तब अदृष्ट प्रयोजन प्राप्त होगा। अतः मन्त्रों का दृष्टादृष्ट प्रयोजन सिद्ध है।

25.3 नामधेय से अभिप्राय

पूर्वोक्त वेद के पञ्चभागों में नामधेय तृतीय भाग है। नामधेय मीमांसा दर्शन का एक पारिभाषिक शब्द है जो विशेषरूप से याग के नाम का संज्ञान कराने वाला है। विजातीय पदार्थों से भिन्न एक निश्चित अर्थ का ज्ञान कराने वाला नामधेय है। 'नामधेयानां च विधेयार्थपरिच्छेदकतयाऽर्थवत्त्वम्' अर्थात् विजातीय की निवृत्तिपूर्वक विधेयार्थ के निश्चय करने में नामधेय की सार्थकता है। वेद के इस भाग में शब्द द्वारा उद्दिष्ट वाक्य के अप्राप्त याग का विधान कराया जाता है। यथा – 'उद्भिदा यजेत पशुकामः' इस दृष्टान्त में उद्भिद शब्द किस अर्थ का बोधक है यह निश्चित करना है। यदि इस वाक्य में उद्भिदा शब्द हटाकर केवल 'यजेत पशुकामः' दृष्टान्त किया जाय तो इसका अर्थ होगा 'यागेन पशुं भावयेत्' इस वाक्य से एक ऐसे यागसामान्य का विधान हो रहा है जिसका नाम अभिधेय है। क्योंकि याग विशेष का नाम अभिहित किये बिना अनुष्ठान सम्भव नहीं है।

प्रस्तुत दृष्टान्त में उद्भिद शब्द खुरपा, कुदाली आदि के साथ यागविशेष का भी बोधक है। इसकी प्रथम व्युत्पत्ति– 'उद्भिद्यते उर्दध्वं विदीर्यते भूमिरनेनेति' अर्थात् जिससे भूमि की खुदाई होती है उस साधनविशेष को उद्भिद कहते हैं। किन्तु यह दृष्टान्त नामधेय का है इसलिए यहाँ उद्भिद का अर्थ खुरपा, कुदाली न करके यागविशेष ही लेते हैं। सर्वमान्य है कि किसी विशेष फल की प्राप्ति के लिए विशेष कर्म करना पड़ता है। उपर्युक्त दृष्टान्त में पशुप्राप्ति रूप विशेष फल के प्राप्ति की इच्छा है अतः किसी विशेष याग की आवश्यकता है इसलिए उद्भिदा एवं यागेन दोनों शब्दों का सामानाधिकरण्य प्राप्त होने पर उद्भिद नामक विशेष कर्म का विधान किया गया है – 'उद्भिन्नामकेन यागेन फलं कुर्यात्' इत्युक्ते सामानाधिकरण्यं लभ्यते। गुणत्वे तु 'खनित्रेण साध्यो यो यागः तेन' इत्येवं वैयधिकरण्यं स्यात्। यदि खनित्रवता यागेन, इति सामानाधिकरण्यं योज्येत तदा मत्वर्थलक्षणा प्रसज्येत। तस्मादुद्भिदादिपदं नामधेयमिति'।

नामधेय होने के चार निमित्त बताये गये हैं –

1. मत्वर्थलक्षणा के भय से,
2. वाक्यभेद के भय से,
3. तत्प्रख्यशास्त्र से तथा
4. तद्व्यपदेश से।

25.3.1 मत्वर्थलक्षणा के भय से नामधेय

गुण एवं कर्म दोनों का एक साथ विधान करने वाली विधि ही नामधेय की प्रथम निमित्त होगी। यथा– 'उद्भिदा यजेत पशुकामः' इस वाक्य में उद्भिद शब्द का नामधेयत्व मत्वर्थलक्षणा के भय से ज्ञात होता है। क्योंकि 'उद्भिदा यजेत पशुकामः' के अनेक अर्थ प्राप्त होते हैं जैसे– 1. प्रस्तुत वाक्य का 'यागेन पशुं भावयेत्, उद्भिदा च यागं भावयेत्' यह अर्थ लेने पर याग पशुप्राप्ति का साधन होगा, उद्भिद नहीं। ऐसी स्थिति में उद्भिद गुणवाचक हो जायेगा एवं यागसामान्य ही पशुप्राप्ति का साधन होगा जो शास्त्रतः स्वीकार्य नहीं है। इस प्रकार 'उद्भिदा यजेत पशुकामः' वाक्य में दो साध्य हो जायेंगे। प्रथम, पशुप्राप्ति के साधन याग का साध्य एवं द्वितीय, याग के साधन उद्भिद का साध्य। अतः एक ही अर्थ के एकाधिक विधेयार्थ होने पर वाक्यभेद हो जाता है यह वाक्यदोष है। 2. जहाँ उद्भिद को खनित्र गुणवाचक साधन के रूप में पाया जाता हो– 'खनित्रेण साध्यो यो यागः तेन पशुं भावयेत्'। जैसे– 'दध्ना जुहोति' में दधि साधन है। तथा यह वाक्य गुणवाचक है क्योंकि इसका फलवाचक वाक्य 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' है। किन्तु 'उद्भिदा यजेत पशुकामः' इस वाक्य में फलवाचक कोई अन्य वाक्य नहीं है अतः इस वाक्य को गुणवाक्य मानना असंगत है।

'उद्भिदा यजेत पशुकामः' का अर्थ यह ज्ञात होता है कि पशुप्राप्ति के लिए किसी के द्वारा उसके उपाय को जानने की इच्छा व्यक्त की जा रही है, अतः शास्त्रज्ञ द्वारा कहा जाता है कि– 'पशुकामो यजेत 'इत्यस्य पदद्वयस्य अयमर्थः– पशुरूपं फलं यागेन कुर्यात्' इति। तत्र 'केन यागेन' इत्यपेक्षायाम् 'उद्भिदा' इति तृतीयान्तं पदं यागनामत्वेन अन्वेति। 'उद्भिद्यते पशुफलमनेन यागेन' इति निरुक्त्या नामत्वमुद्भित्पदस्योपपद्यते' इति। यहाँ उद्भिद को यागविशेष का साधन मान लेने से मत्वर्थलक्षणा नाम दोष से मुक्ति मिल जाती है। अतः यहाँ मत्वर्थलक्षणा के भय से उद्भिद का यागविशेष नामधेय सिद्ध हुआ है। शास्त्रदीपिका में कहा भी गया है –

> दध्यादौ गत्यभावेन सर्वमेतत्समञ्जसम्।
> उद्भिदादिषु तन्नैवं नामधेयत्वसम्भवात्।।

25.3.2 वाक्यभेद के भय से नामधेय

विधिवाक्य से याग के दो अङ्गों का प्रकाशन होना आवश्यक है – द्रव्य एवं देवता। 'चित्रया यजेत पशुकामः' इस वाक्य में चित्र शब्द को वर्णविशेष का बोधक मानने पर विशिष्ट याग का विधान नहीं हो पायेगा क्योंकि 'दधि मधु पयो घृतं धाना उदकं तण्डुलास्तत्संसृष्टं प्राजापत्यम्' वाक्य से गुण का पूर्व में अवबोधन किया जा चुका है। अतः पशुयाग रूप फल एवं चित्ररूपगुण का सम्बन्ध मानने पर वाक्यभेद हो जायेगा अत एव चित्रा शब्द यागविशेष का ही बोधक है। 'चित्रया यजेत पशुकामः' में चित्रा एवं याग का समानाधिकरण्य से अन्वय होने पर वाक्यभेद नाम का दोष नहीं होगा। इस प्रकार वाक्यभेद के भय से 'चित्रया यजेत पशुकामः' वाक्य में चित्रा शब्द का चित्रवर्णरूप नहीं अपितु यागविशेष अर्थ ग्रहण किया जाता है।

25.3.3 तत्प्रख्यशास्त्र से नामधेय

'अग्निहोत्रं जुहोति' इस वाक्य में अग्निहोत्र शब्द का अर्थ यागविशेष ही लेना चाहिए क्योंकि शास्त्रों से ज्ञात होता है कि अग्निहोत्र नाम का यागविशेष होता है– 'अग्निज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहेति मायं जुहोति, सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहेति प्रातः इति विहितेन मन्त्रेण प्राप्तत्वात् देवता न विधेया। ततोऽग्निसूर्यदेवताकस्य

सायंप्रातःकालयोर्नियमेन अनुष्ठेयस्य कर्मणः अग्निहोत्रमिति यौगिकं नामधेयम्। योगश्च बहुव्रीहिणा दर्शितः। यहाँ अग्निहोत्र शब्द की कर्मनामधेयता तत्प्रख्यशास्त्र के कारण ज्ञात होती है। 'अग्निहोत्रं जुहोति' इस वाक्य को गुणविधि क्यों न माना जाय यदि ऐसी शंका की जाती है तो सिद्धान्तपक्ष द्वारा कहा जाता है कि यदि होम के आधार रूप में अग्निरूपी गुण का विधान किया जाये तो अनर्थ हो जायेगा क्योंकि इसी तरह 'यदाहवनीये जुहोति' वाक्य में भी आहवनीय को गुण मानना पड़ेगा तो इसका अर्थ होगा 'जब आहवनीय नामक अग्नि में हवन करता है' इस प्रकार यह विधि ही व्यर्थ हो जायेगी अतः यहाँ तत्प्रख्यशास्त्र से 'अग्निहोत्र' नामधेय होता है।

25.3.4 तद्व्यपदेश से नामधेय

व्यपदेश का सामान्य अर्थ उपमा करना है। उपमा नाम उपमान। 'श्येनेन अभिचरन् यजेत' इस वाक्य में श्येन शब्द बाज पक्षी का बोधक एवं सम्पूर्ण वाक्य गुणविधि है ऐसा पूर्वपक्ष का मत है। किन्तु सिद्धान्तपक्ष कहता है कि यहाँ श्येन की उपमा देकर विधेय कर्म की प्रशंसा की गयी है क्योंकि जिस प्रकार श्येन (बाज) पक्षी अपने शिकार (लक्ष्य) को झपटकर मार देता है वैसे ही श्येन याग भी अपकारी शत्रु को झपटकर मार देता है – 'यथा वै श्येनो निपत्यादत्ते एवमयं द्विषन्तं भ्रातृव्यं निपत्यादत्तः'। इस प्रकार 'श्येनेन अभिचरन् यजेत' इस वाक्य से श्येन पक्षी की स्तुति अभीष्ट नहीं अपितु उससे उपमा देकर दूसरे पदार्थ (श्येन याग) की स्तुति की जा रही है। इस प्रकार श्येन शब्द तद्व्यपदेश से श्येनकर्म का नामधेय है।

इस प्रकार मत्वर्थलक्षणा का भय, वाक्यभेद का भय, तत्प्रख्यशास्त्र तथा, तद्व्यपदेश इन चार निमित्तों से नामधेय को सरलतापूर्वक समझा गया एवं इन चारों निमित्तों से नामधेय कैसे सिद्ध होता है यह जाना गया।

25.4 निषेध से अभिप्राय

निषेध का सामान्य अर्थ है – मना करना। यह वेद का चतुर्थ भाग है। अनिष्ट फलदायक कर्मों से मनुष्य को निवृत्त करने वाला वाक्य निषेध है – 'पुरुषस्य निवर्तकं वाक्यं वेदः'। अनिष्ट के कारणभूत क्रियाओं से पुरुष को हटाने में ही निषेध वाक्य की सार्थकता है – 'निषेधवाक्यानामनर्थहेतुक्रियानिवृत्तिजनकत्वेनैवार्थवत्त्वात्'। इस प्रकार विधिवाक्य किसी कर्म के प्रति प्रवृत्त करता है तो निषेध वाक्य कर्म से निवृत्त करता है। जैसे – 'न कलञ्जं भक्षयेत्' अर्थात् विषाक्त बाण से मारे गये पशु का मांस नहीं खाना चाहिए। इस प्रकार कलञ्ज खाने से मनुष्य की मृत्यु भी हो सकती है जो उसके लिए अनिष्ट है अतः निषेध वाक्य मनुष्य को इस कर्म से निवृत्त करता है। इस प्रकार विधिवाक्य के श्रवण से यह विधि मुझे यागादि में प्रवृत्त करती है इस वाक्यार्थ की प्रतीति होती है – 'विधिवाक्यश्रवणेऽयं मां प्रवर्तयतीति प्रतीतिः'। तथा निषेधवाक्य से निषिद्धस्थानों की निवृत्ति ही निषेध का वाक्यार्थ है – 'तस्मान्निषेधवाक्यस्थले निवर्तनैव वाक्यार्थः'।

निषेधवाक्य में नञ् संयुक्त होता है यह अन्वित पद के अर्थ के विरोधी का बोध कराता है। 'न कलञ्जं भक्षयेत्' इस वाक्य में लिङ्ग के साथ उच्चरित 'नञ्' में लिङ्ग के प्रवर्तना के विरोधी निवर्तना का ही बोध कराता है– 'इह लिङ्समभिव्याहृतो नञ् लिङर्थप्रवर्तनाविरोधिनीं निवर्तनामेव बोधयतीति'। क्योंकि जैसे विधिवाक्य के श्रवण से प्रवृत्ति होती है वैसे ही निषेधवाक्य के श्रवण से निवृत्ति होती है। जब लिङ् के अर्थ का

नञ् के अर्थ के साथ अन्वय होने में बाधक उपस्थित होता है तब धात्वर्थ का लिङर्थ से अन्वय होता है। यहाँ नञर्थ के अभाव के साथ लिङर्थ के अन्वय होने में दो बाधक हैं – 1. तस्य व्रतम् का उपक्रम एवं 2. विकल्प प्रसक्ति।

25.4.1 तस्य व्रतम् का उपक्रम

यहाँ व्रत शब्द कर्त्तव्य के अर्थ का बोधक है। 'नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्' अर्थात् उदय एवं अस्त हो रहे सूर्य को न देखें। प्राचीन काल में गुरुकुल में पढ़ने वाले स्नातकों को यह व्रत दिया जाता था वहाँ 'तस्य व्रतम्' से प्रकरण प्रारम्भ करके 'नेक्षेत' इत्यादि पाठ है। यहाँ 'तस्य व्रतम' एवं 'नेक्षेत' में एकवाक्यता होने पर कर्त्तव्यार्थ का बोध होता है। कर्त्तव्यार्थ का बोध न होने पर नञर्थ से लिङर्थ का अन्वय नहीं होगा। इस प्रकार 'नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्' इसका वाक्यार्थ हुआ– 'आदित्यविषयक अनीक्षणसंकल्प से भावना करें'। पुनः यहाँ फल की अपेक्षा होने पर 'एतावता न सा वियुक्तो भवति' अर्थात् इतने से व्यक्ति पापमुक्त हो जाता है। इस प्रकार नञर्थ का लिङर्थ से अन्वय न होने पर धात्वर्थ से विरोधी अनीक्षणसंकल्प अर्थ ग्रहण करने पर 'तस्य व्रतम्' 'नेक्षेत' तथा सभी वाक्यों से एक ही तात्पर्य का प्रतिपादन होता है। इस प्रकार नञर्थ से लिङर्थ का बोध हो जाता है।

25.4.2 विकल्प प्रसक्ति

'यजतिषु ये यजामहं करोति नानुयाजेषु' इस वाक्य में विकल्प की प्रसक्ति न हो इसलिए पर्युदास ग्रहण किया जाता है। यहाँ नञर्थ से लिङर्थ का अन्वय किया जाये तो अनुयाज यागों में 'ये यजामहे' वाक्य का प्रतिषेध होने लगेगा। इस प्रकार 'ये यजामहे' का निषेध होने पर प्राप्ति का ही निषेध होने लगा अतः प्राप्तिपूर्वक निषेध हुआ। इस प्रकार 'ये यजामहे' वाक्य की शास्त्रतः प्राप्ति हुई किन्तु शास्त्र से ही वाक्य का निषेध होने पर विकल्प होता है। परस्पर निरपेक्ष शास्त्रों में बाध्यबाधकभाव होता है। इस प्रकार पदशास्त्र 'पदे जुहोति' को अपने अर्थ के विधान के लिए आवहनीय शास्त्र 'आहवनीये जुहोति' की अपेक्षा नहीं है। 'अनुयाजेषु ये यजामहं न करोति' में 'न' का अन्वय धात्वर्थ से करने पर निषेधवाक्य हो जाता है अतः इसमें 'यजतिषु ये यजामहं करोति' में विकल्प की प्रसक्ति अपरिहार्य है। यहाँ पर विकल्प का खण्डन करने के लिए दो हेतु उपस्थित हैं– 1. पाक्षिकाप्रामाण्य एवं 2. द्विरदृष्ट कल्पना। जिसमें प्रथम का अर्थ है– विकल्प ग्रहण करने पर शास्त्र के एक पक्ष में अप्रामाण्य आ जाता है। द्वितीय का अर्थ है– दो अदृष्टों की कल्पना करनी पड़ेगी। इस प्रकार अनुयाजों से भिन्न यागों में 'ये यजामहे' मन्त्र का उच्चारण करना चाहिए इस वाक्यार्थ का बोध होता है। इस प्रकार वेद के चतुर्थ भाग निषेध का विवेचन अत्यन्त विस्तृत होने पर भी संक्षिप्त रूप में प्रतिपादित किया गया।

25.5 अर्थवाद से अभिप्राय

अर्थवाद वेद का पंचम एवं अन्तिम भाग है। विधेयार्थ की प्रशंसा एवं निषेधार्थ की निन्दा करने वाला वाक्य अर्थवाद है– 'प्राशस्त्यनिन्दान्यतरपरं वाक्यमर्थवादः'। वस्तुतः विधिवाक्य (पुरुषस्य प्रवर्तकं वाक्यं विधिः) द्वारा प्रतिपादित अथवा विहित यागादि कर्म और निषेधवाक्य (पुरुषस्य निवर्तकं वाक्यं निषेधः) द्वारा निषिद्ध कलंजभक्षण एवं ब्राह्मणहननादि कर्म ही अर्थवाद के विषय हैं– 'प्रयोजवदर्थो विधिनिषेधप्रातिपाद्ययागादि कलञ्जभक्षणनिवृत्तित्यादिरूपः'। अर्थवाद में संगति के लिए अभिधा द्वारा अर्थ का ग्रहण

न होने पर लक्षणा का भी आश्रय लिया जाता है क्योंकि मुख्यार्थ के बाध होने पर लक्षणा का आश्रयण शास्त्रमान्य है। लक्षणा का आश्रय लेने पर 'वायुदेव का स्तुतिगान' विधेय एवं 'रजतदक्षिणादान' निषेध कर्मों के प्राशस्त्य एवं निन्दितत्व का प्रतिपादक अर्थवाद हो जायेगा। इस प्रकार विधेय एवं निषिद्ध का ज्ञान होने पर प्राशस्त्य एवं निन्दित कर्मों में अर्थवाद से प्रवृत्ति एवं निवृत्ति होती है – 'तत्पर्यवसानं तद्गतश्रेयस्त्वप्रतिपादनोपक्षीणम्। तथा च 'वायुर्वै' इत्यादि वाक्यं लक्षणया विधिबोधितकर्मविशेषस्य श्रेयस्त्वं प्रतिपादयति। 'सोऽरोदीदि'त्यादिवाक्यञ्च निषेध्यनिन्दनमुखेन निषेधवाक्यावगततन्निवृत्तेः श्रेयस्त्वमवगमयतीति प्राशस्त्यनिन्दान्यतरपरवाक्यत्वरूपलक्षणाक्रान्तेनेवेति नाव्याप्तिरिति भावः'। इस प्रकार अर्थवाद द्वारा विधि एवं निषेध परक कर्मों का ज्ञान होता है।

अर्थवाद के मुख्यतः दो प्रभेद हैं – 1. विधिशेष एवं 2. निषेधशेष।

25.5.1 विधिशेष

विधिशेष में विधि और शेष दो शब्द हैं जहाँ विधि का अर्थ है– पुरुष को प्रवृत्त करने वाला वाक्य– 'पुरुषस्य प्रवर्तकं वाक्यं विधिः' तथा शेष का अर्थ है– अवशिष्ट, अंश, पूरक, उपकारक। इस प्रकार विधिशेष अर्थवाद वह है जो विधिवाक्य के अवशिष्ट अंश की भाँति प्रतीत होने वाला तथा विधिवाक्य के साथ एकवाक्यता प्राप्त करके विधिवाक्य के अर्थ का पूरक होता है अतः विधिवाक्य का उपकारक विधिशेष होता है– 'विधिशेषो विध्युपकारकः'। और विधि एवं अर्थवाद में एकवाक्यता मानी जाती है क्योंकि दोनों मिलकर एक वाक्य के अर्थ का बोधन करते हैं– 'विधिना त्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधिनां स्युः'।

विधिशेष का उदाहरण है – 'वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः' अर्थात् 'ऐश्वर्यप्राप्ति की अभिलाषा करने वाला व्यक्ति वायु देवता के लिए श्वेतपशु का आलम्भन करे' यह विधिवाक्य है इसका शेषवाक्य अर्थात् अर्थवाद वाक्य 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' अर्थात् वायु तीव्रगामी देवता है। इस प्रकार – 'यतः क्षिप्रगामितया क्षिप्रफलप्रदो वायुरस्य पशोर्देवता, अतः प्रशस्तमिदं वायव्यश्वेतालम्भनमित्येवं विधेयार्थप्राशस्त्यबोधकतयेत्यर्थः' यह वाक्य है। इस प्रकार प्रस्तुत विधिवाक्य यज्ञादि रूप कर्म की प्रशंसा करके सार्थकता को प्राप्त होता है– 'वायुः क्षिप्रगामित्वादतीवप्रशस्ता देवता भवत्यस्तद्दैवत्यं कर्म प्रशस्तमिति विधेयकर्मदेवतागतप्राशस्त्यप्रतिपादनद्वारा विध्येकवाक्यत्वेनार्थवत्वमित्यर्थः'। यहाँ 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' वाक्य 'वायव्यं श्वेतमालभेत' इस विधि वाक्य का पूरक माना गया है।

25.5.2 निषेधशेष

यहाँ निषेधशेष में भी दो शब्द हैं – निषेध एवं शेष। जहाँ निषेध का अर्थ है – 'पुरुषस्य निवर्तकं वाक्यं निषेधः' अर्थात् पुरुष को किसी अनिष्ट कर्म से निवृत्त करने वाला अर्थवाद वाक्य निषेध है। तथा शेष का अर्थ–अवशिष्ट, अंश, पूरक, उपकारक है। निषेध वाक्य का उपकारक निषेधशेष होता है– 'निषेधशेषो निषेधोपकारकः'। वस्तुतः निषेधवाक्य द्वारा निषिद्ध पदार्थ की निन्दा करने वाले अर्थवाद को निषेधशेष कहते हैं।

निषेधशेष का उदाहरण है– 'बर्हिषि रजतं न देयम्' अर्थात् याग में रजत की दक्षिणा नहीं देनी चाहिए, यह निषेधवाक्य है इसका शेषवाक्य है– 'सोऽरोदीद्यदरोदीत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्' अर्थात् वह रोया, जो रोया वही रुद्र की रुद्रता है। इससे यह विदित होता है कि यज्ञादि में रजत का दान नहीं देना चाहिए क्योंकि यदि रजतदान होगा तो घर में रोने का प्रसंग उत्पन्न होगा– 'यो बर्हिषि रजतं दद्यात् पुरास्य संवत्सरात् गृहे रोदनं

भवति' अर्थात् जो यज्ञ में रजतदान करेगा उसका वर्ष के भीतर ही रोदन अवश्यम्भावी है अथवा उसके घर में रोदन अवश्यम्भावी है। इस प्रकार प्रकृत वाक्य में अर्थवाद द्वार निषेध्य रजतदान की निन्दा की गयी है। अतः निषेधशेष संज्ञक अर्थवाद का प्रयोजन निषेध वाक्य द्वारा निषेध्य पदार्थ की निन्दा का बोध कराना है यही निषेधशेष का अर्थवत्त्व है– 'निषेधशेषस्य निषेध्यस्य निन्दितत्वबोधकतयार्थवत्त्वम्'। इस प्रकार इस अर्थवाद से निषेध्य वाक्य द्वारा निषिद्ध रजतदान की निन्दा होने से निषेध एवं अर्थवाद वाक्यों में एकवाक्यता स्थापित की गयी है– 'यतोऽस्य रोदनं जातमतो वर्षाभ्यन्तरे रोदनस्यावश्यम्भावितेति प्रतिपादनद्वारेण बर्हिषि रजतदानस्य निषेध्यस्य निन्दितफलजनकतया निन्दितत्वबोधनेनार्थवत्त्वमित्यर्थः'। इस प्रकार विधिशेष एवं निषेधशेष अर्थवाद से प्राशस्त्य एवं निन्दापरक वाक्यों का बोध होता है तथा तत्परक कर्मों का सम्पादन भी होता है।

प्रकारान्तर से अर्थवाद के तीन अन्य भेद किये गये हैं– 1. गुणवाद, 2. अनुवाद एवं ३. भूतार्थवाद। इन तीनों भेदों का स्वरूप एक श्लोक में द्रष्टव्य है–

विरोधे गुणवादः स्यादनुवादोऽवधारिते।
भूतार्थवादस्तद्धानादर्थवादस्त्रिधा मतः ।।

25.5.3 गुणवाद

जहाँ अर्थवाद का किसी दूसरे प्रमाण के द्वारा विरोध होता है वहाँ गुणवाद अर्थवाद होता है– 'प्रमाणान्तरविरोधे सत्यर्थवादो गुणवादः'। गुणवाद का एक अन्य लक्षण भी द्रष्टव्य है– 'प्रमाणान्तरविरुद्धार्थबोधकत्वं यत्र स गुणवादः'। गुणवाद का उदाहरण है– 'आदित्यो यूपः' यहाँ आदित्य सूर्य को कहते हैं और पशुयाग में पशु को जिस स्तम्भ में बांधा जाता है उसे भी यूप कहते हैं। यूप की स्तुति करते समय उसे 'आदित्यो यूपः' कहा जाता है, इस वाक्य में आदित्य को यूप कहा गया है, आदित्य एवं यूप में अभेद बताया गया है किन्तु आदित्य तो उज्ज्वल चमकता हुआ पिण्ड है और यूप एक यज्ञस्तम्भ है अतः दोनों में अभेद नहीं हो सकता है। अतः 'मुख्यार्थबाधे लक्षणा' इस शास्त्रन्याय से लक्षणा करने का अवसर प्राप्त हो जाता है। लक्षणा गुणों को आश्रित करके प्रवृत्त होती है। 'आदित्यो यूपः' इस वाक्य में लक्षणा करने पर आदित्य उज्ज्वलत्व रूप गुण का बोधक होगा तथा दिव्य होने के कारण यूप में भी उज्ज्वलत्व है इस प्रकार आदित्य एवं यूप के गुणों में ऐक्यता हो जाती है अतः 'आदित्यो यूपः' का अर्थ होगा– 'यज्ञस्तम्भ आदित्य की भाँति चमकने वाला है'। इस प्रकार सम्पूर्ण वाक्य का वाक्यार्थ होगा– 'यूप आदित्याभेदस्य प्रत्यक्षबाधितत्वादादित्यवदुज्ज्वलत्वरूपगुणोऽनेन लक्षणया प्रतिपाद्यते'। इस प्रकार वाक्य का वाच्यार्थ बाधित कर उसके गुणरूप अर्थ का लक्षणा से बोधित होने के कारण गुणवाद नामक अर्थवाद का भेद होगा।

25.5.4 अनुवाद

किसी अन्य प्रमाण से ज्ञात विषय का पुनरुपपादन अनुवाद कहलाता है। 'अनुवादोऽवधारिते' अर्थात् अनुवाद का प्रतिपाद्य विषय अन्य प्रमाण से ज्ञात रहता है। अर्थसंग्रह में अनुवाद का लक्षण किया गया है– 'प्रमाणान्तरावगतार्थबोधकोऽर्थवादोऽनुवादः' अर्थात् दूसरे प्रमाण से ज्ञात पदार्थ का ज्ञापक अर्थवाद अनुवाद कहलाता है। अनुवाद का उदाहरण है– 'अग्निर्हिमस्य भेषजम्' अर्थात् अग्नि शैत्य की औषधि होती है। शीतकाल में ठण्ड का प्रकोप बढ जाता है तो लोग ठण्ड से बचने के लिए अग्नि का आश्रय ग्रहण करते हैं अर्थात् अग्नि के पास

बैठते हैं। यहाँ प्रत्यक्षतः ज्ञात होता है कि अग्नि शैत्य को दूर करने का साधन है। वस्तुतः अग्नि शैत्य का नाशक है यह तो पूर्व से ही ज्ञात था किन्तु इस अर्थवाद द्वारा पूर्वज्ञात विषय का पुनः ज्ञापन कराने के कारण 'अग्निर्हिमस्य भेषजम्' वाक्य को अनुवाद की संज्ञा दी गयी है। इस प्रकार अग्नि के हिमविरोधित्व धर्म का 'अग्निर्हिमस्य भेषजम्' वाक्य द्वारा अनुवाद होने के कारण इस अर्थवाद को अनुवाद नाम दिया गया है।

25.5.5 भूतार्थवाद

प्रकारान्तर से भेद किये गये अर्थवाद का तीसरा प्रकार भूतार्थवाद है। जिस वाक्य में विरोध एवं निश्चय दोनों न हो वह भूतार्थवाद है इसे इस प्रकार से भी कह सकते हैं कि जिस अर्थवाद में गुणवाद की तरह प्रमाणान्तरविरोध न हो तथा अनुवाद की तरह प्रमाणान्तरावधारण न हो वह भूतार्थवाद अर्थवाद होता है। अर्थात् भूतार्थवाद में प्रमाणान्तरविरोध एवं प्रमाणान्तरावधारण दोनों का अभाव होता है। अर्थसंग्रहकार कहते हैं– 'प्रमाणान्तरविरोधतत्प्राप्तिरहितार्थबोधकोऽर्थवादो भूतार्थवादः' अर्थात् दूसरे प्रमाण से होने वाले बाध एवं बोध दोनों से रहित विषय का ज्ञापक अर्थवाद भूतार्थवाद होता है। वस्तुतः भूतार्थवाद द्वारा ऐसे विषय का ज्ञान कराया जाता है जिसको किसी अन्य प्रमाण द्वारा नहीं जाना सकता। भूतार्थवाद का उदाहरण है– 'इन्द्रो वृत्राय वज्रमुदयच्छत्' अर्थात् 'इन्द्र ने वृत्र को मारने के लिए वज्र उठाया'। यह वृत्तान्त अतिप्राचीन है। इस वृत्तान्त को किसी ने देखा–सुना नहीं है इसलिए इसका प्रमाणान्तर से न विरोध हो सकता है और न ही समर्थन, इस ज्ञान का ज्ञापक केवल यह वाक्यमात्र है। इस प्रकार 'इन्द्रो वृत्राय वज्रमुदयच्छत्' वाक्य का प्रमाणान्तर से विरोध अथवा समर्थन प्राप्त नहीं है अतः भूतार्थवाद नामक अर्थवाद है।

इस प्रकार अर्थवाद का प्रथमतः वाक्यशेष एवं निषेधशेष के भेद से विभाजन करके विवेचन प्रस्तुत किया गया पुनः प्रकारान्तर से गुणवाद, अनुवाद एवं भूतार्थवाद के भेद से अर्थवाद का विभाजन कर उदाहरणों के साथ सम्यक्तया प्रतिपादन प्रस्तुत किया गया है।

25.6 सारांश

भारतीय दार्शनिक परम्परा में आस्तिक दर्शन के अन्तर्गत निरूपित मीमांसादर्शन के प्रकरण ग्रन्थ अर्थसंग्रह में वर्णित वेदों के पंचभागों में से अन्तिम चार भागों– मन्त्र, नामधेय, निषेध एवं अर्थवाद का विवेचन मीमांसादर्शन के साध्य धर्म की प्राप्ति के लिए किया गया है। इनके सम्यक् विवेचन का सार इस प्रकार है–

वेद को भलिभाँति जानने के लिए इन मन्त्रादि को जानना अत्यन्त आवश्यक है तथा नियम एवं परिसंख्या विधि के विना मन्त्र के प्रयोजन को नहीं जाना जा सकता है। एक ही शब्द के अनेक अर्थ प्राप्त होते हैं लेकिन प्रकरणानुसार ही अर्थ लेना चाहिए। निमित्त के उपस्थित होने पर भी किसी शब्द का अर्थ परिवर्तित हो जाता है। निषेध का अभिप्राय कर्म में प्रवृत्ति से सर्वदा रोकना नहीं है अपितु अनिष्ट कर्मों के सम्पादन से रोकना है। प्राशस्त्य कर्मों में प्रवृत्ति एवं निन्दित कर्मों से निवृत्त कराना अर्थवाद का प्रयोजन है। अर्थवाद का मुख्य प्रयोजन इष्ट की प्राप्ति एवं अनिष्ट से परिहार ही है एवं मन्त्रादि का ज्ञान ही किसी वाक्य के सम्यग् वाक्यार्थ का बोध कराता है।

25.7 शब्दावली

अग्निष्टोम – सोमसंस्था का याग विशेष।

अपूर्व – यागादि के अनुष्ठान से उत्पन्न होकर भविष्य में फल देने वाला।

अर्थवाद – अर्थ–प्रयोजन का कथन अर्थवाद है।

उपक्रम – तात्पर्य का ग्राहक।

क्रतु – याग।

चोदना – प्रेरणा।

बर्हिष – चौंसठ या सोलह कुशों की मुष्टि।

मन्त्र – वेदवचन।

याग – किसी देवता को उद्देश्य करके विहित द्रव्य का घृत, यवादि का त्याग।

यूप – विहित काठ का मानवमुखाकृति खम्बा जैसा याग का उपकरण।

विधि – अज्ञात तथा श्रेयस् के साधन का बोधक वेदवाक्य।

स्वर्ग – जिसमें दुःख का अंशमात्र स्पर्श न हो।

हविष् – यज्ञादि में जिससे हवन किया जाये।

25.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. अर्थसंग्रह, लौगाक्षिभास्कर, मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी नाम संस्कृत टीका, टीकाकार– रामेश्वर शिवयोगी, अर्थमीमांसा नाम हिन्दी व्याख्य एवं भाष्य, हिन्दी भाष्यकार– डॉ. राजेश्वर शास्त्री मुसलगाँवकर, वाराणसी, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, संस्करण– वि.सं. 2016।
2. अर्थसंग्रह, लौगाक्षिभास्कर, मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी नाम संस्कृत टीका, टीकाकार– रामेश्वर शिवयोगी, प्रकाशिका नाम हिन्दी व्याख्या, हिन्दी व्याख्याकार– डॉ. कामेश्वर नाथ मिश्र, वाराणसी, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, 2014।
3. अर्थसंग्रह, लौगाक्षिभास्कर, अर्थालोक नाम संस्कृत टीका, टीकाकार– पट्टाभिराम शास्त्री, हिन्दी व्याख्याकार– डॉ. वाचस्पति मिश्र, वाराणसी,चौखम्भा ओरियण्टालिया, 1990।
4. अर्थसंग्रह, लौगाक्षिभास्कर, मीमांसार्थसंग्रहकौमुदी नाम संस्कृत टीका, टीकाकार– रामेश्वर शिवयोगी, दीपिका नाम हिन्दी व्याख्या, हिन्दी व्याख्याकार– त्यागमूर्ति श्रीटाटाम्बरिस्वामी, वाराणसी, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, 1979।
5. अर्थसंग्रह, लौगाक्षिभास्कर, सार्थसंग्रहकौमुदी नाम संस्कृत टीका, टीकाकार– रामेश्वर शिवयोगी, अर्थबोधिनी नाम हिन्दी टीका, हिन्दी टीकाकार– डॉ. दयाशंकर शास्त्री, वाराणसी, चौखम्बा विद्याभवन, 2003।
6. भारतीय दर्शन, आचार्य बलदेव उपाध्याय, वाराणसी, शारदा मन्दिर, 2016।
7. भारतीय दर्शन, डॉ. नन्द किशोर देवराज, लखन0, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, 2002।

8. भारतीय दर्शन, डॉ. जगदीशचन्द्र मिश्र, वाराणसी, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, 2005।
9. भारतीय दर्शन, वाचस्पति गैरोला, इलाहाबाद, लोकभारती प्रकाशन, 2009।
10. मीमांसामंजरी, र.. तङ्गस्वामी शर्मा, नई दिल्ली, भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद्, 1996।
11. मीमांसा के पारिभाषिक पदों का परिचय, डॉ. किशोरनाथ झा, नई दिल्ली, राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, 2013।

25.9 अभ्यास प्रश्न

1. धर्म का स्वरूप बताते हुए मन्त्र का विश्लेषण करें।
2. वेद के तृतीय भाग नामधेय का स्वरूप बतायें।
३. निषेध का प्रतिपाद्य बतायें।
4. अर्थवाद पर प्रकाश डालें।
5. वेद के भागों का महत्त्व बतायें।
6. अनुवाद एवं भूतार्थवाद का प्रतिपाद्य स्पष्ट कीजिए।